भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परंपरा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

मो. **9660111549**

संस्करण :

प्रथम 2023

ISBN : **978 - 81 - 89435 - 69 - 1**

मूल्य - **400/-**

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

26

भारतीय ज्ञान परम्परा और षड्दर्शन

यदुनन्दन शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय दर्शन की मूल विशेषता वैचारिक स्वतंत्रता, विविधता और विचार-प्रचुरता है। इसी स्वतंत्रता के कारण भारत में अलग-अलग दार्शनिक मत विकसित हुए। फलस्वरूप यहाँ दो प्रकार की विचारधाराएँ पनपीं—

(1) आस्तिक दर्शन (वैदिक दर्शन) :- जो वेद को प्रमाण मानते हैं; इनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) प्रमुख हैं।

(2) नास्तिक दर्शन (अवैदिक/भौतिकवादी दर्शन) :- जो वेद तथा ईश्वर को प्रमाण नहीं मानते; इनमें चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन आते हैं।

अत: भारतीय ज्ञान परम्परा की विशेषता यह है कि यहाँ विविध मत होते हुए भी सभी को विचार की पूर्ण स्वतंत्रता मिली, जिसने दर्शन को समृद्ध और बहुआयामी बनाया।

भारतीय परम्परा में दर्शन और धर्म को अलग-अलग नहीं माना गया, बल्कि एक ही सत्य के दो रूप समझा गया है। यहाँ दर्शन मात्र बुद्धिजीवी चिंतन नहीं, बल्कि जीवन को दिशा देने वाला व्यावहारिक मार्ग है; और धर्म केवल कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि नैतिकता, आचरण और कर्तव्य का समुच्चय है। इसलिए दर्शन बिना धर्म के निष्फल है, क्योंकि बिना आचरण के विचार निरर्थक हो जाते हैं, और धर्म बिना दर्शन के अप्रतिष्ठित है, क्योंकि तर्क और विचार के बिना वह रूढ़ि बन सकता है। भारत में इन दोनों का समन्वय बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

दार्शनिक मतों के वर्गीकरण का आधार भी यही है कि जहाँ मूल मान्यताएँ समान हों वहाँ साम्य के कारण एक वर्ग बन जाता है, और जहाँ मान्यताएँ विरोधी हों वहाँ वैषम्य के कारण दूसरा वर्ग बनता है। भारतीय दर्शन सिद्धान्तों का विशाल सागर है, जिसमें अनेक मत अपने-अपने दृष्टिकोण के साथ विकसित हुए, फिर भी उनका उद्देश्य मानव जीवन को सत्य और नैतिकता की दिशा में मार्गदर्शन देना ही रहा।

भारतीय दर्शन का सामान्य वर्गीकरण दो भागों में किया जाता है—आस्तिक

और नास्तिक। आस्तिक वे माने गए हैं जो वेदों को प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसी आधार पर सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त को आस्तिक दर्शनों में रखा गया है। इसके विपरीत, जैन, बौद्ध और चार्वाक वेद-प्रमाण तथा ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते, इसलिए इन्हें नास्तिक दर्शन कहा गया। यह विभाजन भारतीय दार्शनिक परम्पराओं की मूल मान्यताओं के साम्य और वैषम्य पर आधारित है।

भारतीय दर्शन की संख्या और उसके वर्गीकरण का इतिहास अत्यंत विस्तृत और परिवर्तनशील रहा है। सबसे पहले महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय खण्ड में दर्शनों का जो प्रारम्भिक उल्लेख मिलता है, वहाँ पाँच दर्शनों—सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत और वेदमत की गणना की गई है। यह प्रारम्भिक सूची यह दर्शाती है कि उस समय दार्शनिक धाराओं का रूप आज के स्थापित स्वरूप से कुछ भिन्न था। इसके बाद पुष्पदन्त द्वारा रचित शिवमहिम्नस्तोत्र में चार दर्शनों— सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव का वर्णन मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि समय-समय पर विभिन्न मतों को प्रमुख स्थान मिलता रहा।

कई स्मृति ग्रन्थों में समस्त दर्शनों को केवल न्याय और मीमांसा के अन्तर्गत रखा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह दोनों ही दर्शन व्यापक रूप से स्वीकार्य और प्रमुख थे। सांख्य दार्शनिक पंचशिख ने तो और भी आगे बढ़कर स्पष्ट कहा कि दर्शन अनेक नहीं, बल्कि एक ही है, और वह है ज्ञान-मीमांसा—यानी वास्तविकता का तात्त्विक ज्ञान।

सर्वसिद्धान्तसंग्रह नामक ग्रन्थ में दर्शनों की संख्या ग्यारह बताई गई, जिनमें लोकायत, आर्हत, व्यासपक्ष और वेदान्तपक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के दार्शनिक जयन्तभट्ट ने एक अलग सूची प्रस्तुत की, जिसमें मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, आर्हत, बौद्ध और नास्तिक दर्शनों को षड्दर्शन की श्रेणी में रखा गया, जो आज प्रचलित षड्दर्शन से थोड़ा अलग है।

सबसे विस्तृत दार्शनिक संकलन सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य) में मिलता है, जिसमें सोलह दर्शनों—चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, माध्व, पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनीय, पाणिनीय, सांख्य, पतंजलि और शांकर का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। यह ग्रन्थ यह स्पष्ट कर देता है कि भारतीय दर्शन केवल षड्दर्शन तक सीमित नहीं, बल्कि एक विशाल और बहुआयामी परम्परा है।

सामान्यत: आधुनिक काल में नास्तिक दर्शन के रूप में लोकायत, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक मत को नास्तिक षड्दर्शन कहा जाता है, जबकि आस्तिक परम्परा में वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त को आस्तिक

षड्दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

संतों की वाणी दर्शाती है कि षड्दर्शनों के अतिरिक्त भी कई दर्शन मौजूद थे और हैं। आधुनिक युग में महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने अपने परमार्थ-दर्शन को सप्तम दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया। अर्वाचीन (आधुनिक) दार्शनिकों ने भी कई ऐसे दर्शन स्वीकारे हैं जो परम्परागत षड्दर्शनों से अलग हैं।

इस प्रकार भारतीय दर्शन की परम्परा केवल षड्दर्शन तक सीमित नहीं, बल्कि सतत विकसित होती रही एक विराट, जीवंत और बहुविध धारा है, जिसकी समृद्धि और व्यापकता ही उसे अद्वितीय बनाती है।

यह विचार बताता है कि 'षड्दर्शन' शब्द इसलिए प्रचलित है क्योंकि मूलतः भारतीय दर्शन में छह ही बुनियादी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ आस्तिक-नास्तिक दोनों परंपराओं में समान रूप से दिखाई देती हैं। जैसे भौतिकवाद, लोकमतवाद, वस्तुवाद, प्रत्ययवाद, आलोचनात्मक वस्तुवाद और निरपेक्षतावाद।

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक से लेकर माध्यमिक तक इन प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप मिलता है, और आस्तिक दर्शनों—वैशेषिक से वेदान्त तक भी इन्हीं छह मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए परंपरा मानती है कि भारतीय चिंतन के सभी दार्शनिक रूप अंततः इन छह मौलिक आधारों में सिमटते हैं, और इसी कारण 'षड्दर्शन' की संज्ञा टिक गई।

भारतीय दर्शन का विकास वेदों से माना गया है, और वेदों को अनादि तथा अनन्त ज्ञान का गीत समझा गया है। आस्तिक दर्शनों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनका साहित्य सूत्र-भाष्यात्मक परम्परा में रचा गया है। वेदों का स्वरूप जहाँ मंत्र-ब्राह्मणात्मक है, वहीं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त जैसे दर्शनों का स्वरूप मुख्यतः सूत्र और भाष्य के रूप में मिलता है।

सूत्र अत्यंत संक्षिप्त, सारगर्भित व अर्थ-गहन वाक्य होते हैं। इसमें कम शब्द होते हैं, लेकिन उनमें पूरा दर्शन समाहित होता है—एक प्रकार से 'सागर को गागर में भरना'। उदाहरण—जैमिनी का मीमांसा सूत्र, बादरायण का वेदान्त सूत्र, गौतम का न्याय सूत्र, कणाद का वैशेषिक सूत्र, कपिल का सांख्य सूत्र तथा पतंजलि का योगसूत्र।

भाष्य इन संक्षिप्त सूत्रों की विस्तृत व स्पष्ट व्याख्या करता है, क्योंकि सूत्र अपने आप में अत्यंत गूढ़ होते हैं।

आस्तिक दर्शन वेद को प्रमाण मानता है, इसलिए वे वेद की मूल मान्यताओं से अलग नहीं होते। कठोपनिषद् का एक सिद्धांत यह बताता है कि साधक जिस सत्य का वरण करता है, आत्मा उसी रूप में स्वयं को प्रकट करती है। आत्म-दर्शन

का मूल कारण मनुष्य की बुद्धि नहीं, बल्कि उस सत्य की आत्माभिव्यक्ति है। फिर प्रश्न उठता है—यदि तत्वज्ञान आत्माभिव्यक्ति से ही प्राप्त होता है, तो बौद्धिक प्रयास क्यों आवश्यक?

उत्तर यह है कि बुद्धि का प्रयत्न मन को निर्मल, शांत और ग्रहणशील बनाता है। जिस प्रकार स्थिर जल में ही सूर्य का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार शंकाओं से मुक्त और शुद्ध बुद्धि में ही तत्वज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान का वास्तविक कारण आत्माभिव्यक्ति है, परंतु उसके लिए तैयारी बुद्धि को ही करनी पड़ती है।

भारतीय दर्शन में अधिकारी-भेद एक मूल सिद्धांत है। प्रत्येक दर्शन का उपदेश उसके योग्य साधक को ही दिया जाता था। आज यह भेद उपेक्षित है, इसलिए वेदान्त जैसे गम्भीर ग्रंथों को बार-बार पढ़ने पर भी मन की स्थिति में परिवर्तन नहीं होता। वेदान्त के लिए आवश्यक साधन-चतुष्टय की सिद्धि बिना, उसका ज्ञान प्रभावी नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्येक दर्शन का अधिकारी अलग होता है—जैसे पूर्वमीमांसा का अधिकारी वह है जिसमें कर्म-जिज्ञासा हो, जैसा जैमिनी के पहले सूत्र 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' में स्पष्ट है।

इस अधिकारि-भेद के कारण ही प्राचीन आचार्यों ने अलग-अलग जिज्ञासुओं को उनकी योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न दर्शन समझाए, और यही भारतीय दर्शन की परम्परा की गहराई व विशिष्टता है।

भारतीय दर्शनों के समन्वयवादी स्वरूप को आज भी कई प्रमुख भारतीय विद्वान स्वीकारते हैं—जैसे महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज, डॉ. उमेश मिश्र और डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन। इनके अनुसार भारतीय दर्शन आपस में विरोधी नहीं, बल्कि एक ही सत्य की विविध व्याख्याएँ हैं।

इसी दृष्टि को पाश्चात्य विद्वान भी मान्यता देते हैं। थियो बर्नार्ड ने अपनी पुस्तक "The Philosophical Foundations of India" में लिखा है कि षड्दर्शन किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं, बल्कि दीर्घ परम्परा में विकसित भारतीय चिंतन की सामूहिक उपलब्धि हैं। इनके वास्तविक प्रवर्तक अज्ञात हैं, लेकिन इससे इनके सिद्धान्तों की महत्ता कम नहीं होती।

बर्नार्ड के अनुसार ये सभी दर्शन मिलकर एक ही परम सत्य की क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक दर्शन दूसरे से संबद्ध है—एक की प्रतिज्ञा, विधि और परिणाम दूसरे दर्शन के सिद्धांतों पर टिके होते हैं। इसलिए वे एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, बल्कि एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।

न्यायदर्शन

भारतीय वस्तुवादी दर्शनों में न्याय दर्शन का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'न्याय' शब्द का अर्थ ही है—वह साधन जिसके द्वारा हम किसी इच्छित तत्व या सत्य तक पहुँचते हैं। अर्थात् न्याय वह प्रक्रिया है जो ज्ञान को सही रूप में स्थापित करती है।

न्यायसूत्र में ज्ञान के लिए सोलह विषय बताए गए हैं, जिनमें सबसे प्रमुख है प्रमाण, क्योंकि इन्हीं के द्वारा तत्व-ज्ञान सम्भव होता है। न्याय में प्रमाण चार माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनमें भी नैयायिकों के अनुसार अनुमान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि अन्य प्रमाणों की विश्वसनीयता भी अनुमान पर आधारित होती है।

उपनिषदों में जिस 'मनन' को ज्ञान का मुख्य साधन कहा गया है, वही अनुमान की प्रक्रिया है। अनुमान का औपचारिक रूप 'पंचावयव वाक्य' है, जिसमें प्रतिज्ञा, हेतुः, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव होते हैं। जब मुक्ति या अपवर्ग तत्व-ज्ञान से प्राप्त होती है, और तत्व-ज्ञान प्रमाणों पर निर्भर है, तथा प्रमाणों में अनुमान मुख्य है, तो स्पष्ट है कि न्यायशास्त्र ज्ञान को स्थिर और सत्य बनाने वाला प्रमुख दर्शन है।

न्याय को 'आन्वीक्षिकी' भी कहा गया है, जिसका अर्थ है, विचार और विश्लेषण की विद्या। इसके अन्य नाम—'हेतुविद्या', 'हेतुशास्त्र', तथा 'तर्कशास्त्र' भी यह दर्शाते हैं कि न्याय का मूल स्वरूप तर्क, विश्लेषण, प्रमाण और विचार की विधियों का व्यवस्थित अध्ययन है।

आस्तिक दर्शनों में न्याय-दर्शन को पहला स्थान इसलिए दिया गया है क्योंकि यह ज्ञान प्राप्ति की बुनियादी पद्धति सिखाता है। इसका दृष्टिकोण व्यावहारिक है, इसलिए इसे समझने के बाद अन्य गहन दर्शनों की ओर बढ़ना आसान होता है। प्रमाणों की स्पष्ट विवेचना न्याय में सबसे सुगठित रूप में मिलती है, इसलिए प्राचीन शिक्षा-पद्धति में इसे सर्वप्रथम पढ़ाया जाता था।

इसके प्रवर्तक महर्षि गौतम (अक्षपाद) माने जाते हैं, जिन्होंने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में न्यायसूत्र की रचना की। इनका उद्देश्य मुख्यतः उस समय प्रचलित बौद्ध तर्कों का खंडन कर वैदिक विचार-धारा को स्थापित करना था। यही कारण है कि न्यायशास्त्र में वाद, जल्प और वितण्डा जैसे तर्क-वितर्क के उपायों का विस्तार मिलता है। बाद के विद्वानों—वात्स्यायन, उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने भी बौद्ध मतों के निराकरण को न्याय दर्शन का प्रमुख उद्देश्य बताया।

भारतीय चिन्तकों का मत है कि दर्शन की उत्पत्ति मनुष्य के दुःख पर विचार करने से हुई है—दुःख क्या है, क्यों है, और उससे मुक्ति कैसे मिले। इसी कारण

भारतीय दर्शन का अंतिम लक्ष्य दु:ख-निवृत्ति और मोक्ष माना गया है।

न्याय शास्त्र भी इसी परम्परा का अनुसरण करता है। उसका उद्देश्य सही ज्ञान के माध्यम से अज्ञान को दूर करना और अंतत: मनुष्य को दु:ख से मुक्त कर मोक्ष की अवस्था तक पहुँचाना है। ज्ञान के बिना मोक्ष संभव नहीं, और ज्ञान के बिना दु:ख का निवारण नहीं इसलिए न्याय दर्शन का मूल लक्ष्य भी दु:ख-निवृत्ति ही है।

'न्यायसूत्र' के रचयिता को लेकर विद्वानों में काफी चर्चा हुई है। प्राचीन परम्परा गौतम और अक्षपाद इन दोनों नामों को एक ही व्यक्ति का पर्याय मानती है, अर्थात् न्यायसूत्र के प्रवर्तक महर्षि गौतम ही अक्षपाद कहलाते थे। लेकिन आधुनिक विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान दोनों को अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं। प्रो. जैकोबी जैसे संशोधकों का मत है कि न्यायसूत्रों में जो तत्वमीमांसा संबंधी अंश दिखाई देता है, वह बाद में जोड़ा गया है। इससे प्रतीत होता है कि हमें आज जो न्यायसूत्र उपलब्ध हैं, वे अपने मौलिक रूप में पूर्णत: संरक्षित नहीं हैं, बल्कि किसी हद तक परिवर्तित रूप हैं।

फिर भी विद्वानों की सहमति यह है कि न्यायसूत्रों का मूल रचना-कार्य कौटिल्य से पहले ही सम्पन्न हो चुका था, अर्थात् इनका निर्माण अत्यंत प्राचीन है।

वस्तुत: न्यायशास्त्र के मूल प्रवर्तक महर्षि गौतम ही माने जाते हैं और भारतीय परम्परा उन्हें सदियों से न्यायसूत्रों का रचयिता स्वीकार करती आ रही है।

किंतु कुछ विद्वानों के अनुसार 'गौतम' वास्तव में एक गोत्र का नाम है, और इस गोत्र में विभिन्न कालों में कई दार्शनिक हुए। इसी आधार पर यह मत प्रस्तुत किया गया कि न्याय पर विचार करने वाले दो प्रमुख दार्शनिक— (1) अक्षपाद गौतम, और

(2) मेधातिथि गौतम, दो अलग-अलग व्यक्तित्व थे।

इनमें मेधातिथि गौतम को अध्यात्मप्रधान न्याय का प्रवर्तक माना गया है, अर्थात् वे न्याय के आध्यात्मिक और मोक्षमार्गीय पक्ष पर अधिक बल देते थे। वहीं अक्षपाद गौतम को प्रमाण-प्रधान न्याय का संस्थापक माना गया है, जिनका ध्यान ज्ञान, तर्क, प्रमाण और अनुमान की पद्धति को व्यवस्थित करने पर केंद्रित था।

इस प्रकार न्यायशास्त्र की परम्परा में गौतम गोत्र के इन दोनों दार्शनिकों का योगदान माना जाता है, जबकि मूल न्यायसूत्रों का श्रेय परम्परा अक्षपाद गौतम को ही देती है।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद माने जाते हैं। इन्हीं ने भारतीय दर्शन

में सर्वप्रथम परमाणु सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार जगत् के मूल में सूक्ष्म, अविभाज्य परमाणु हैं।

'वैशेषिक' नाम को लेकर अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार, यह दर्शन अपने साधर्म्य-वैधर्म्य (साम्य-वैषम्य) पर आधारित विश्लेषण के कारण अन्य दर्शनों से विशेष रूप से भिन्न दिखता है, इसलिए इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।

वैशेषिकसूत्र के भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालंकार के अनुसार इस दर्शन में अन्य दर्शनों की तुलना में विशेष, सूक्ष्म और भिन्नतापूर्ण तत्वों की व्याख्या अधिक मिलती है, इसलिए इसे 'वैशेषिक' कहा गया। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि यह दर्शन विशेषकर सांख्य दर्शन से भिन्न और अधिक सूक्ष्म विश्लेषण वाला है।

वस्तुत: वैशेषिक दर्शन की खासियत यह है कि इसमें पदार्थों —जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का इतना सटीक, तर्कपूर्ण और सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है, जितना अन्य किसी दर्शन में नहीं। इसी अद्वितीय विश्लेषण पद्धति के कारण यह 'वैशेषिक' कहलाता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म वह है जिससे अभ्युदय (व्यवहारिक सुख-समृद्धि) और निश्रेयस (परम कल्याण या मोक्ष) की प्राप्ति होती है। चूँकि वेदों के आदेश इन दोनों की प्राप्ति कराते हैं, इसलिए वैशेषिक दर्शन वेद को प्रमाणिक और मान्य मानता है।

पुराणों में उल्लेख है कि महर्षि कणाद ने ही इस शास्त्र का प्रवर्तन किया। उनका नाम 'कणाद' यौगिक माना गया है। कहा जाता है कि वे मार्ग में गिरे चावल के कणों को खाते थे, इसलिए उन्हें यह नाम मिला। कुछ ग्रंथों में उन्हें 'उलूक' या 'औलूक्य' भी कहा गया है, क्योंकि दिन में वे ग्रंथ रचते और रात में उल्लू की तरह जीविकोपार्जन करते थे। वायुपुराण में उन्हें सोमशर्मा का शिष्य और शिव का अवतार बताया गया है।

कणाद् के व्यक्तिगत जीवन से उनका ईश्वरवादी होना स्पष्ट होता है। वैशेषिक दर्शन में उन्होंने सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन किया है और परमाणु (अणु) सिद्धांत के आधार पर जगत की रचना को समझाया है।

वैशेषिक दर्शन का मुख्य उद्देश्य धर्म को उसके वास्तविक रूप में समझाना है। इसलिए कणाद अपने सूत्रों की शुरुआत धर्म की मीमांसा से करते हैं। वे धर्म को ऐसा आचरण बताते हैं जिससे मनुष्य को अभ्युदय—अर्थात् लौकिक उन्नति और नि:श्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक कल्याण दोनों प्राप्त हों। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि

धर्म का आधार वेद हैं, क्योंकि वेद ही प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत हैं।

कणाद कहते हैं कि धर्म का सच्चा लाभ पदार्थों के तत्वज्ञान से मिलता है, इसलिए वैशेषिक दर्शन की पदार्थ-मीमांसा वास्तव में धर्म की समझ का साधन है। इस दर्शन के अनुसार संसार दुःखमय है और उससे मुक्ति ही परम श्रेय है, जिसके लिए धर्मानुसार कर्म करना आवश्यक है। समस्त कर्मों का अंतिम लक्ष्य सुख प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति है, और वैशेषिक दर्शन इसी मार्ग को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है।

वैशेषिक दर्शन में अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को तत्वज्ञान प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। इन साधनों के अभ्यास से साधक आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, जिसे आत्म साक्षात्कार कहा गया है। शंकरमिश्र के अनुसार आत्म साक्षात्कार ही मोक्ष का मुख्य साधन है।

आत्मा का साक्षात्कार होने पर जीव संसार के बन्धनों से मुक्त होकर शान्त अवस्था को प्राप्त होता है, जिसे न्याय-वैशेषिक में मोक्ष कहा गया है। मुक्त अवस्था में आत्मा के नौ विशेष गुण—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान, संस्कार तथा पाँच क्लेश—अविद्या, राग, द्वेष, जन्म, मरण—सब समाप्त हो जाते हैं।

मुक्त आत्मा देह-विहीन होने के कारण चैतन्य रहित, निर्गुण और निरानन्द अवस्था में स्थापित हो जाती है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप एक पूर्णतः शान्त, अचेतन और निर्गुण अवस्था माना गया है।

सांख्य दर्शन

भारतीय साहित्य में कपिल का नाम अत्यंत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माना जाता है, विशेषकर सांख्य दर्शन के संदर्भ में। परम्परा के अनुसार महर्षि कपिल ही सांख्य दर्शन के आदि उपदेशक हैं, यद्यपि संस्कृत साहित्य में कपिल नाम के कई उल्लेख मिलने से यह निश्चित करना कठिन हो गया है कि सांख्य-प्रणेता कपिल कौन थे।

विभिन्न ग्रन्थों में कपिल का उल्लेख अलग-अलग रूपों में मिलता है—कहीं वे ब्रह्मर्षि, कहीं अग्नि अवतार, तो कहीं विष्णु अवतार के रूप में वर्णित हैं। भागवतपुराण में कपिल को देवहूति और कर्दम के पुत्र तथा साक्षात् विष्णु के अवतार के रूप में बताया गया है और उन्हें सांख्य का प्रथम उपदेष्टा कहा गया है। गरुड़पुराण में भी कपिल को विष्णु का पंचम अवतार माना गया है।

वाचस्पति मिश्र बताते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में कपिल मुनि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न दिव्य ऋषि के रूप में अवतरित हुए थे। महाभारत में कपिल

से प्रारम्भ होने वाली सांख्याचार्यों की लंबी परम्परा का उल्लेख है, जिसमें जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, याज्ञवल्क्य, पंचशिख, सुकदेव, सनतकुमार आदि प्रमुख हैं।

अधिकांश विद्वान कपिल को ही सांख्यसूत्रों का मूल रचयिता मानते हैं। बाद में अनिरुद्ध, महादेव वेदान्ती और विज्ञानभिक्षु जैसे विद्वानों ने इन सूत्रों पर टीकाएँ लिखीं, जो मध्यकाल (14-16वीं शताब्दी) की मानी जाती हैं। अत: सांख्य दर्शन का मूल आधार आज भी कपिल-प्रणीत सांख्यसूत्र ही है।

सांख्य दर्शन के अनुसार संसार के सभी दु:ख—चाहे वे शरीर और मन से उत्पन्न हों, अन्य जीवों से मिलें या प्रकृति-जनित हों—मानव जीवन को बाँधते हैं। इनका आंशिक निवारण तो साधारण उपायों से हो सकता है, परन्तु पूर्ण मुक्ति तभी संभव है जब मनुष्य यह विवेक प्राप्त कर ले कि पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। इस भेद के ज्ञान से ही वास्तविक स्वतंत्रता मिलती है और दु:खों का अन्त होता है।

सांख्य दर्शन का मत है कि मोक्ष केवल विवेक से मिलता है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति का सही भेद-ज्ञान। अविवेक से जीव दु:खों में फँसा रहता है, और विवेक मिलते ही बन्धन टूट जाते हैं। इस विवेक की प्राप्ति गुरु की शरण के बिना संभव नहीं। साधक को आचार-शौच का पालन करना, विषय-भोगों का त्याग करना, और मन को संयमित बनाना आवश्यक है। कपिल ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य, तथा उपनिषदों की पद्धति—श्रवण और मनन को भी मोक्ष के लिए अनिवार्य मानते हैं। इन साधनों से विवेक जागृत होता है और जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

आचार्य शंकर ने सांख्य और योग—दोनों को वैदिक परंपरा से उद्भूत माना है। श्वेताश्वरोपनिषद् के वाक्य 'सांख्ययोगाधिगम्यं' की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि सांख्य का अर्थ है वैदिक ज्ञान (तत्व का बौद्धिक विवेचन) और योग का अर्थ है ध्यान (आध्यात्मिक साधना)। इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार सांख्य और योग कोई अलग, अवैदिक मत नहीं, बल्कि वही वैदिक तत्वज्ञान और वैदिक ध्यान-साधना है, जिन्हें उपनिषदों ने मान्यता दी है। इसलिए उन्होंने इन्हें 'वैदिकदर्शन' कहा।

योग दर्शन

योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि माने जाते हैं, इसलिए इसे पातंजल दर्शन भी कहा जाता है। इसका मूल ग्रंथ योगसूत्र है, जो चार पादों—समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद में विभाजित है। इन सूत्रों पर व्यास मुनि का प्रसिद्ध योग-भाष्य उपलब्ध है। इसी पर वाचस्पति मिश्र की योगतत्त्ववैशारदी और विज्ञानभिक्षु की योगवार्तिक जैसी महत्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी गईं। भोज, अनिरुद्ध और नागेश की

वृत्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं।

योग दर्शन का साहित्य भले ही व्यापक न हो, पर यह अत्यंत वैज्ञानिक, व्यावहारिक और सभी दर्शनों द्वारा स्वीकृत साधना-प्रधान दर्शन है, जो मन, शरीर और आत्मा को संयमित कर मुक्ति की ओर ले जाता है।

योग का अर्थ यहाँ समाधि है, जिसका लक्ष्य है—आत्मा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति। यह स्थिति तब संभव होती है जब चित्त की सभी वृत्तियाँ शांत हो जाएँ, इसलिए योग को 'चित्तवृत्ति निरोध' कहा गया है।

योग में अष्टांग योग के आठ चरण बताए गए हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनका अभ्यास करने से अविद्या (अज्ञान) दूर होती है और साधक के भीतर विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है। जब यह विवेक पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है तो साधक कैवल्य अर्थात् पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अत: योग का मुख्य प्रयोजन है— चित्त की शुद्धि, विवेक-ज्ञान की प्राप्ति तथा अंतत: कैवल्य-प्राप्ति।

योगदर्शन के अनुसार मुक्ति केवल पुरुष-प्रकृति के भेद-ज्ञान से नहीं मिलती। इसके साथ-साथ वासना और संस्कारों का क्षय तथा अष्टांग योग का अभ्यास भी आवश्यक है।

योग यहाँ चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम है, और यह निरोध समाधि से संभव होता है। समाधि प्राप्त करने का प्रमुख साधन ईश्वर-प्रणिधान माना गया है, जो साधक के मन को एकाग्र कर चित्त को शांत करता है और मुक्ति की दिशा खोलता है।

योगशास्त्र में ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं माना गया, लेकिन योग-साधना में ईश्वर का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया गया है।

पतंजलि के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिए साधक को प्रणव का जप करना चाहिए। यह जप केवल यांत्रिक न होकर अर्थ-चिंतन सहित होना चाहिए। जब साधक अपने चित्त-मंदिर में ईश्वर को ध्यान का केंद्र बना लेता है, तब उसके अचल ध्यान से ईश्वर की कल्पा प्राप्त होती है। इसी ईश्वर-प्रसाद और निरंतर अभ्यास से साधक असम्प्रज्ञात समाधि, अर्थात् योग की सर्वोच्च अवस्था, को प्राप्त कर लेता है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन वेदों को सर्वोच्च प्रमाण मानता है और उनके समान प्रतिष्ठा किसी अन्य दर्शन को नहीं देता। वेद अपौरुषेय, नित्य और दोषरहित माने गए हैं, इसलिए उनके सही अर्थ को समझने के लिए मीमांसा आवश्यक होती है।

महर्षि जैमिनी द्वारा रचित मीमांसा-सूत्र वेद-वाक्यों, शब्द-अर्थ, वाक्य-वाक्यार्थ

तथा प्रमाणों का गहन विश्लेषण करते हैं, ताकि सिद्ध हो सके कि वेद स्वयं प्रमाण (स्वत:प्रमाण) है और उसकी प्रमाणिकता किसी बाहरी आधार पर निर्भर नहीं।

मीमांसकों के अनुसार वेद मानव-निर्मित नहीं, बल्कि ऋषियों को प्रकाशित हुए शाश्वत ज्ञान हैं; इसलिए वेदों में किसी प्रकार का दोष संभव नहीं।

मीमांसा के प्रथम आचार्य जैमिनी ने मीमांसासूत्र की रचना की, जिसमें बारह अध्याय द्वादशलक्षणी और चार देवताकाण्ड कहलाते हैं। इन सूत्रों पर शबरस्वामी का शाबरभाष्य प्रमुख आधार है। आगे चलकर तीन परम्पराएँ बनीं—भाट्टमत (कुमारिलभट्ट), गुरुमत (प्रभाकरमिश्र) और मिश्रमत (मुरारिमिश्र)।

कुमारिल ने वैदिक कर्मकाण्ड को बल देते हुए शाबरभाष्य पर कई टीकाएँ लिखीं। उनके शिष्य मण्डनमिश्र ने भी मीमांसा और वेदान्त पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे। भाट्ट परम्परा में पार्थसारथि मिश्र और माधवाचार्य भी प्रमुख आचार्य रहे। प्रभाकर ने 'बृहती' टीका द्वारा गुरुमत को स्थापित किया, जबकि मुरारिमिश्र ने मीमांसा में स्वतंत्र 'तृतीय पन्था' का प्रवर्तन किया।

मीमांसा नैतिकता को सर्वोच्च आदर्श नहीं, बल्कि धार्मिक जीवन का सहायक मानती है। प्रभाकर धर्म-अधर्म को 'अपूर्व' कहता है, जो वैदिक कर्मों से उत्पन्न फल माना गया है। कुमारिल के अनुसार यज्ञादि बाह्य कर्म ही धर्म हैं।

मीमांसा मत में कर्म ही बन्धन का कारण है; जब कारण (कर्म) नष्ट होता है तो बन्धन भी समाप्त हो जाता है। इसलिए केवल वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। इन्हें करने और निषिद्ध कर्मों का त्याग करने से नया शरीर उत्पन्न नहीं होता और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है—इसी को मुक्ति कहा गया है।

वेदों में यज्ञ को धर्म का प्राण माना गया है, इसलिए मीमांसा का प्रमुख उद्देश्य यज्ञों का सही प्रकार से विधान स्पष्ट करना है। भारतीय संस्कृति में जन्म से मृत्यु तक के सभी संस्कार यज्ञ से जुड़े हैं। ऋग्वेद की प्रथम पंक्ति से ही यज्ञ का महत्व प्रतिपादित होने के कारण मीमांसा आचार-विमर्श का केन्द्र यज्ञ-कर्म ही है।

वेदान्त दर्शन

वेदान्तसूत्र, जिनके रचयिता महर्षि बादरायण माने जाते हैं, ब्रह्मविद्या का अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु गहन ग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय हैं, जिनमें सम्पूर्ण वेदान्त का सार व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत हुआ है। प्रथम अध्याय 'समन्वयाध्याय' उपनिषदों के विविध वाक्यों का तात्पर्य एक ही ब्रह्म में स्थापित करता है और दिखाता है कि समस्त वेदान्त-विचार अन्ततः ब्रह्मज्ञान की ओर ले जाते हैं। द्वितीय अध्याय 'अविरोधाध्याय'

सांख्य, योग, वैशेषिक आदि दर्शनों के तर्कों से उत्पन्न होने वाले विरोधों को दूर कर वेदान्त के सिद्धान्तों की निरविरोधता सिद्ध करता है। तृतीय अध्याय 'साधनाध्याय' यह बताता है कि ब्रह्मज्ञान किन साधनों से सिद्ध होता है और इसके लिए श्रवण, मनन और ध्यान का महत्व क्या है। चतुर्थ अध्याय 'फलाध्याय' ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होने वाली अंतिम अवस्था अर्थात् मोक्ष का वर्णन करता है और यह स्पष्ट करता है कि ब्रह्मविद्या का फल जन्म-मरण के बन्धनों से पूर्ण मुक्ति है।

बादरायण से पहले भी वेदान्त-दर्शन की एक समृद्ध और विस्तृत परम्परा विद्यमान थी। वेदान्तसूत्रों में जिन प्राचीन आचार्यों— आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, काषर्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, वादरि, काश्यप—के मतों का उल्लेख मिलता है, उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, पर उनके विचारों से स्पष्ट है कि वेदान्त का आधार उनसे पहले ही विकसित हो चुका था। शंकराचार्य के पूर्व भी अनेक वेदान्ती विद्वान हुए—भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मनन्दी, टंक, भारुचि, ब्रह्मदत्त, गुहदेव, कपर्दिक, द्रविड़ाचार्य, सुन्दरपाण्ड्य, परंकुश, नाथमुनि—जिन्होंने वेदान्त परंपरा को समृद्ध किया। इन आचार्यों में भर्तृप्रपंच, आश्मरथ्य और औडुलोमि भेदाभेदवाद के प्रवर्तक माने गए, जबकि भास्कर ने ब्रह्मपरिणामवाद का प्रतिपादन किया। इस प्रकार शंकराचार्य से बहुत पहले ही वेदान्त के विविध पक्षों का क्रमशः विकास होता रहा, और इन आचार्यों की दीर्घ परम्परा ने वेदान्त-दर्शन को मजबूत आधार प्रदान किया।

अद्वैत वेदान्त की परम्परा में गौड़पादाचार्य को प्रारम्भिक प्रतिष्ठापक माना जाता है, जिन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका लिखकर अद्वैत के गहन सिद्धान्तों को संगठित रूप दिया। उनके बाद शंकराचाय ने अद्वैत वेदान्त को दार्शनिक, भाष्यकार तथा संन्यासी परम्परा के रूप में दृढ़ आधार प्रदान किया। केरल में जन्मे शंकराचार्य ने अल्पायु में ही संन्यास ग्रहण कर भारतभर में शास्त्रार्थ किए और अनेक उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर वेदान्त को प्रामाणिक स्वरूप दिया। मण्डन मिश्र अद्वैत परम्परा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्वान रहे, जिनकी रचनाओं ने भामती-प्रस्थान की बौद्धिक नींव को दृढ़ किया; बाद की परम्परा में उन्हें ही सुरेश्वराचार्य माना गया। वाचस्पति मिश्र ने अद्वैत सहित अनेक दर्शनों पर टीकाएँ लिखीं और 'भामती' के माध्यम से अद्वैत की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की। श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य तथा माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने भी अपने-अपने ग्रन्थों के माध्यम से अद्वैत को दार्शनिक दृष्टि से सुदृढ़ किया।

वेदान्त में शंकराचार्य ने ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य और जगत को मिथ्या कहा,

जबकि रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के रूप में भिन्न व्याख्या दी। वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—इन प्रमाणों पर आधारित है। सुरेश्वराचार्य के अनुसार वेदान्त में धर्म, काम और मोक्ष का समन्वय है, और मनुष्य प्रवृत्ति के दोषों को समझकर अंततः निवृत्ति और मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। गीता तथा उपनिषदों की दृष्टि में आत्मा ही वास्तविक प्रिय है; इसलिए धर्म, अर्थ, काम सब अंततः उसी आत्मानुभूति की ओर मार्ग प्रशस्त करते हैं, और यही अद्वैत परम्परा का अंतिम लक्ष्य भी है।

अद्वैत वेदान्त में मनुष्य के दुःख का कारण अज्ञान और अध्यासभ्रम है, जिसमें असत् का सत् पर आरोप होता है। आत्मा स्वभावतः शुद्ध है, पर उपाधियों से जीव प्रतीत होता है। मोक्ष का अर्थं है—इस अज्ञान का नाश कर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाना। ब्रह्मविद्या के लिए चित्तशुद्धि आवश्यक है, जो अशुभ कर्मों के त्याग और शुभ कर्मों के अनुष्ठान से प्राप्त होती है।

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान और कर्म दोनों को महत्वपूर्ण माना गया है, पर शंकराचार्य स्पष्ट करते हैं कि मोक्ष का वास्तविक साधन केवल ज्ञान है, कर्म नहीं। कर्म चित्तशुद्धि देता है, पर मुक्ति का कारण नहीं बनता। इसलिए वे ज्ञान-कर्म समन्वय को स्वीकार नहीं करते।

मोक्ष की सिद्धि के लिए साधक को पहले साधन चतुष्टय विकसित करना होता है—नित्य-अनित्य का विवेक, भोगों से वैराग्य, शमादि-षट्सम्पत्ति और मोक्ष की तीव्र इच्छा। इनसे आत्मा और ब्रह्म के बीच का द्वैतभाव समाप्त होने लगता है।

इसके पश्चात साधक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्मज्ञान को स्थिर करता है। गुरु से वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, उनके अर्थ पर गहन मनन, तथा फिर निरन्तर ध्यान (निदिध्यासन) के माध्यम से साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है। इस अनुभूति से उसके सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं, हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है और कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है।

निष्कर्षतः मीमांसा से लेकर वेदान्त तक भारतीय दर्शन की यात्रा वेदों की प्रामाणिकता, धर्म, कर्म और ज्ञान की निरन्तर विकसित होती समझ का परिणाम है। मीमांसा वेदों को अपौरुषेय मानकर धर्म को यज्ञ-कर्मों में स्थापित करती है, जबकि वेदान्त इन्हीं वेद-वाक्यों का तात्पर्य एक ब्रह्म में समन्वित कर देता है। शंकर, गौड़पाद, मण्डनमिश्र, वाचस्पति और अन्य आचार्यों ने अद्वैतवाद को दार्शनिक ऊँचाई प्रदान की, जहाँ अज्ञान ही बन्धन और ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का साधन माना गया। कर्म चित्तशुद्धि का साधन है पर मोक्ष का नहीं; मोक्ष केवल आत्म-ब्रह्म अभेद के प्रत्यक्ष अनुभव से

मिलता है। साधन–चतुष्टय और श्रवण–मनन–निदिध्यासन के द्वारा साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध प्राप्त करता है।

अन्ततः वेद धर्म का आधार हैं, मीमांसा उनका यथार्थ अर्थ स्पष्ट करती है, और वेदान्त यह सिद्ध करता है कि सभी वेदों का अंतिम तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म है। मुक्ति केवल आत्मज्ञान से ही संभव है।

✤✤✤